

Fifth

Rabindranath Tagore Memorial Lecture

पाँचवाँ रवीन्द्रनाथ टैगोर स्मृति व्याख्यान

पावनता का पुनर्वास
“The Rehabilitation of the Sacred”



Padma Shri
Professor Ramesh Chandra Shah

14th November 2018



INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
RASHTRAPTI NIVAS, SHIMLA

पावनता का पुनर्वास

रमेशचंद्र शाह

- (1) हमारी बनावट ही कुछ ऐसी है कि हम अपनी अन्तर्मुखता में आद्य-रूपात्मक हैं और, बहिर्मुखता में नाम-रूपात्मक। इसीलिए मनुष्य को अपनी प्रकृति के किसी भी पक्ष को नकारना नहीं है, बल्कि उच्चतर और निम्नतर, पारमार्थिक और लौकिक- दोनों के बीच सामंजस्य साधते हुए चलना है।¹

— आनन्द कुमारस्वामी

- (2) रोम नास्तिकता और भौतिकवाद की ही खुराक पर पला-पुसा विशालकाय जन्तु है, जो अपने अलावा और किसी को नहीं पूजता। दूसरी ओर इजरायल है- मज़हबी जन्तु- उतना ही विशालकाय। न तो पहला, न वह दूसरा जन्तु ही हमें प्रिय लग सकता है। जन्तु तो जन्तु ही है चाहे जितना विशालकाय हो। विशालकाय जन्तु सदैव और लाजिमी तौर पर हमें बिदकाने वाला ही होता है।²

— सिमोन वेल

- (3) यच्चाप्नोति यदादत्ते, यच्चात्ति विषयानिह
यस्यास्ति संततो भावः तस्मादात्मेति कीर्त्यते।³

— लिंग पुराण-1/76/396

अद्वैत वेदान्त की भारतीय परम्परा में ज्ञान अपने सर्वोच्च अर्थ में आत्मज्ञान होता है : एक ऐसा स्वतःस्फूर्त तत्काल-अनुभूत यथार्थ, जिसमें ज्ञाता और ज्ञात वस्तु के बीच का द्वैत विलीन हो जाता है। किन्तु 'ज्ञान' की पाश्चात्य अवधारणा में ही कुछ ऐसी प्रवृत्ति बद्धमूल है, जो अन्य

¹ "We are archetypal inwardly and phenomenal outwardly. Man is not called upon to deny any part of his nature, but to bring higher an lower, essence and nature into harmony."

² "Rome is the Great Beast of atheism and materialism, adoring nothing, but itself. Israel is the Great Beast of Religion. Neither the One, nor the other is likeable. The Great Beast is always repulsive."

³ यह पुरुष, जो सुषुप्ति में ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है, स्वप्नावस्था में बगैर इन्द्रियों के और जागृतावस्था में इन्द्रियों से विषयों को भोगता हुआ निरन्तर वर्तमान रहता है, वह इसीलिये 'आत्मा' कहलाता है।

को, ममेतर 'दूसरे' को एक वस्तु में बदले बिना, और इस तरह उस पर कब्जा किये बिना रह ही नहीं सकती। 'ज्ञान' इस तरह चराचर विश्व के अवधारणात्मक वशीकरण का अभियान बन जाता है— एक ऐसा अभियान और एक ऐसे निर्बाध हस्तक्षेप की दुर्निवार्य प्रक्रिया, जिसके अन्तर्गत इस चराचर जगत की वस्तुओं—विभूतियों में, व्यष्टियों में, तथा तमाम अन्य सांस्कृतिक—धार्मिक परम्पराओं में कुछ भी ऐसा सारतत्त्व बचे रहने की गुंजाइश ही जड़ से मिटा दी जाती है, जिस पर कब्जा न किया जा सके, समूची चराचर सृष्टि ही एक रहस्यरिक्त सूने सपाट, निरे उपभोग की सामग्री में परिणत हो जाए। इसी तरह आस्था या धर्म—विश्वास की भी उनकी अवधारणा में कुछ ऐसा है, जो अपनी हस्ती के लिए उस 'इनफिडेल' या 'काफिर' के अस्तित्व को अनिवार्य पाता है जो उसकी आस्था यानी धर्म—विश्वास की परिधि से बाहर है और जो इसीलिए न केवल मुक्ति की पात्रता से सर्वथा वंचित है, बल्कि निरवधि नरकवास के लिए जन्मना अभिशप्त एक निहायत ही गैर, विधर्मी और शाश्वत पराएपन से ग्रसित सत्ता है। ऐसी वस्तुस्थिति में हमारे में एक प्रश्न उठता है कि आज के इस पश्चिमीकृत विश्व में स्वयं 'अनुभव' करने और 'जानने' के किसी दूसरे मार्ग की क्या कोई संभावना अभी भी बची है जो इस सृष्टि की विभूतिमत्ता—सत्त्वमयता को यथावत् ग्रहण कर सके— बिना उसका वस्तुकरण किये— अर्थात् बिना उसे महज उपभोग्य लक्ष्य की तरह बरते?

हममें से कइयों के मन में यह सवाल भी उठ सकता है कि क्या संस्कृत भाषा में कोई ऐसा शब्द है जो 'सैक्रेड' बनाम 'प्रोफेन' जैसे परस्पर विरुद्ध और ध्रुवीकृत लक्ष्यार्थों की अवधारणा के ही समकक्ष— समतुल्य,— उन्हीं से उपजा हुआ और उन्हीं को पुष्ट करने वाला पर्याय हो? जैसा कि कई मर्मज्ञों ने रेखांकित किया है इसी खूबी को— संस्कृत ने प्रारम्भ से ही अन्य भारोपीय भाषाओं में व्याप्त उस प्रवृत्ति को— जिसे हम 'रिप्रजेंटेशनल' और 'ऑब्जेक्टिफाइंग' प्रवृत्ति कहते हैं,— उसका प्रतिरोध अपनी संरचना के भीतर ही विकसित किया है। संभवतः भारतीय दर्शन और धर्म की विलक्षणता ही उसकी इसी सहज सामर्थ्य में निहित है— वस्तुकरण और निर्वस्तुकरण को एक साथ साध सकने की सजगता में। मूर्ति को सिराने का मुहूर्त मूर्ति की प्रतिष्ठा के मुहूर्त से नितान्त अलग—थलग और दूर नहीं होता। दोनों समान रूप से सहज अनिवार्य और उत्सवी गतिविधियाँ हैं। बरसों पूर्व कभी बेटी हैमन की एक पुस्तक मेरे पढ़ने में आई थी जो इसी वैशिष्ट्य को लक्षित करती थी। उन्हीं के शब्दों में— "तर्क के प्रति यह भारतीय दृष्टिकोण— जो प्राचीन और अर्वाचीन पश्चिम के दृष्टिकोण से इस कदर भिन्न है, उसी की परिणति है— भारतीय चिंतन में तार्किकता और रहस्यानुभूति— 'लॉजिक और मिस्टिसिज्म' का ऐसा अनोखा— अन्यत्र दुर्लभ मेल— और सामंजस्य। अकारण नहीं है यह, कि विरुद्धों के सामंजस्य की पहली ही सैद्धान्तिक स्थापनाएँ, प्राचीन भारतीय चिंतन में प्रगट हो गई थीं : यह प्रतीति भी, कि यह विरुद्धों का सामंजस्य ही विश्व—ब्रह्माण्ड की चरम—परम

आधारभित्ति है नींव है। यह भी ध्यातव्य है कि मनुष्य की अपूर्णता का और पूर्णता की उसकी अभीप्सा का उत्तर भी ईसाइयत भविष्य के किसी बिन्दु पर खोजती है। मनुष्य की बेहतरी का उसका सपना और दावा सुदूर भविष्य पर ही टिका है। स्वर्ग से बहिष्कृत होने से पूर्व की अच्युतावस्था को वहाँ मानवी विकास के संदर्भ में बिलकुल भी विचारणीय या महत्त्व का स्थान नहीं दिया गया : सिवाय विलियम ब्लेक और विलियम यीट्स सरीखे कवियों के यहाँ— जिन्हें अपनी सभ्यता—संस्कृति की कमी की भरपाई के लिए अपनी ओर से नई पूरक व्याख्याएँ और पुराण—संकल्पनाएँ गढ़नी पड़ीं। दूसरी ओर— तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो वेदान्तिक हिन्दुत्व आत्मन्—ब्रह्मन् की अपनी केन्द्रीय अनुभूति के बूते मूलगामी निर्दोषिता की उस आदर्श एकता पर ही आधारित है जो किसी अतीत या भविष्य की दूरारूढ़ संकल्पना पर नहीं, बल्कि उस सदा उपस्थित, अनुभवसिद्ध अनुभूति और साक्षात् अन्तःप्रमाण पर ही प्रतिष्ठित है जो, माया के आवरणों से भले बारम्बार आवृत्त होते रहें, किन्तु जिन्हें कभी भी पूरी तरह मिटाया नहीं जा सकता।

अब, जैसा कि इस व्याख्यान के प्रारंभ में ही उद्धृत किये गए कुमारस्वामी के कथन से झलकता है, हमारा भारतीय भाव—बोध लौकिक और लोकातिक्रामी दोनों धरातलों पर एक साथ सक्रिय रहा है— मानवीय अस्तित्व के ऐहिक और पारमार्थिक— 'सैक्रेड' और 'प्रोफेन' दोनों आयामों में समान रूप से क्रियाशील। निःसन्देह, इनमें जो पारमार्थिक या लोकोत्तर आयाम है, वह लौकिक आयाम के भंगुर और सीमाबद्ध पहलुओं को देखते हुए, तुलनात्मक दृष्टि से उच्चतर—श्रेष्ठतर है ही; किन्तु, ध्यान देने की बात यह है कि अपनी सारी सीमाओं और बन्धनों के बावजूद यह इहलोक उस लोकोत्तर—पारमार्थिक विश्व से कदापि विच्छिन्न नहीं होता, बल्कि उससे गहरे कहीं जुड़ा हुआ और उसी से पोषित होता है। उसका उद्धार, उसकी कृतार्थता सदैव संभाव्य रही आती है। दूसरे शब्दों में, कहें, तो आत्म—साक्षात्कार की पात्रता से वह कभी भी पूरी तरह वंचित नहीं किया जा सकता— किसी भी परिस्थिति में। मनुष्य का पुरुषार्थ कैंसी भी परिस्थिति का अतिक्रमण कर सकता है। इस पुरुषार्थ और आत्म—साक्षात्कार के लिए उसके पास सर्वोच्च परमात्म—सत्ता की अनुभूति तक पहुँचाने वाले तीन मार्ग सदैव खुले रहते हैं : ज्ञान—मार्ग, कर्म—योग और भक्ति—योग। तीनों योग कहलाते हैं। भारतीय दर्शनों और धर्मों के पीछे जो चिन्तन सक्रिय रहा है, वह संगणनात्मक (कैलकुलेटिव) से कहीं अधिक मननात्मक (मैडिटेटिव) रहा है। यहाँ हाइडेगर द्वारा प्रयुक्त शब्दावली सहज ही याद आती है क्योंकि 'मैडिटेटिव' और 'कैलकुलेटिव' विचार—पद्धतियों के बीच जो सुस्पष्ट विवेक इस शब्दावली में किया है उसने, वह प्रस्तुत प्रसंग में एकदम प्रासंगिक, सटीक और सारगर्भित जान पड़ता है। विशेषकर, यदि उक्त तीनों मार्गों के मूलभूत सर्वनिष्ठ तत्त्व पर ध्यान दें, तो आधुनिक युग के एक महाकवि और भारत से कहीं गहरे में भावित महाकवि विलियम यीट्स

ने अपने सुहृद्-सखा पुरोहित स्वामी द्वारा अनूदित 'पातंजलयोग' की Aphorisms of Yoga नामक पुस्तक की भूमिका में इसी 'योग' के बारे में जो अभिमत प्रकट किया है, उसे उद्धृत करना मुझे यहाँ प्रासंगिक प्रतीत हो रहा है। यीट्स की अंग्रेज़ी शब्दावली में वह अनुभव इस प्रकार व्यक्त हुआ है :

The expence, accessible to all who adopt a traditional technique and habit of life, has become the central expsience of Indian civilization... that, wherein all thoughts and all emotions expect their satisfaction and rest.

अर्थात्, योग वह साक्षात् अनुभव है, जो उन सबके लिए सुलभ है, जो उसके अभ्यास की एक पारम्परिक जीवन्त प्रणाली अपना सकें। यह योग भारतीय सभ्यता का वह केन्द्रीय अनुभव है, जिसमें मानव के समस्त विचार और समस्त भाव-संवेग अपनी संपूर्ण संतुष्टि और विश्रान्ति उपलब्ध करने की संभावना के प्रति आश्वस्त हो सकते हैं। योग की- अर्थात् पावनता के प्रत्यक्ष बोध की- यह समझ- हममें से अनेक लोग यहाँ- अपने यत्किंचित् अनुभव के अन्तःप्रमाण का हवाला देते हुए कह सकते हैं, कि- सर्वथा सम्यक् और प्रामाणिक है।

अब, जहाँ तक हमारी आज की समसामयिक अवस्थिति का प्रश्न है, वह तथाकथित 'सेक्युलराइजेशन' और 'डिसैक्रलाइजेशन'- अर्थात् पावनता और दिव्यता के बोध के पूर्ण विलोपन की अवस्थिति है। अनेकानेक इतिहासज्ञ, दार्शनिक और सामाजिक-धार्मिक विचारक इस बारे में एकमत प्रतीत होते हैं कि मानव-इतिहास की यह अभूतपूर्व और सर्वथा निराली घटना है। कई विचारकों का यह भी मानना है कि इस घटना का उद्गम और क्रमिक विस्तार जूडियो-क्रिश्चियन परम्पराओं में- यानी उनकी पूर्व प्रतिज्ञाओं में ही निहित है। बात को इस तरह न भी रखा जाय तो भी इतना तो समझ में आता ही है कि अपनी जड़ में यह पावन के लोप की समस्या मानव-जीव के 'सोचने' को उसके 'होने' से विच्छिन्न करके ही अपनी दिग्विजयी प्रगति का रथ हाँकने वाली पाश्चात्य सभ्यता के इतिहास की ही उपजाई हुई है। किंतु स्वयं भारत जैसे देश की सभ्यता भी, जहाँ सुदूर अतीत में नहीं, बल्कि ठेट आज की तारीख में भी अतीत के महानतम योगियों-ज्ञानियों के समकक्ष अर्वाचीन विभूतियाँ- महात्मा मंगतराम और निस्सर्गदत्त महाराज सरीखी- लगातार साक्षात् हमारे बीच प्रकट होती रही हैं- इस विश्वव्यापी संक्रामक से अछूती नहीं रही है। स्वयं हमारे सबसे तेजतर्रार बुद्धिजीवियों की गतिविधियों से नित्य-प्रति प्रकट हो रहा है, कि हम कहाँ जा रहे हैं? मानना पड़ेगा कि मात्र परम्परागत शब्दावली का कवच ओढ़कर- जिसके अर्थ को हमने खुद अपने नये तप और अध्यवसाय के बल-बूते नहीं कमाया- अपने को सुरक्षित समझ लेना आत्म-छल ही होगा। हमें अपने पारम्परिक पावनता-बोध को- आत्मविज्ञान और परमात्मविज्ञान को भी- नए सिरे से अर्जित करते हुए आज की इस अभूतपूर्व धर्मग्लानि के बीचोबीच उसके साथ संवाद का

सूत्रपात करना होगा। हमें स्वयं श्री अरविन्द और जे. कृष्णमूर्ति सरीखे एक दूसरे से नितान्त भिन्न मनीषियों के भी कृतित्व का पुनर्मूल्यांकन करना होगा— न केवल भारतीय परंपरा, प्रत्युत स्वयं पश्चिम की भी उस गुह्य आध्यात्मिक परम्परा के भी आलोक में— जिसे स्वयं पश्चिम की ही उस मजहबी परम्परा ने अवदमित और कुंठित कर दिया जिसे आल्डुअल हक्सले ने 'थियोलॉजिकल इम्पीरियलिज़्म' का नाम दिया है। तभी एक आमूलचूल टकराहट के भीतर से हमें स्वयं अपने आज के जीवन और आज की परिस्थिति—परिवेश में स्वयं अपनी तथा विश्वव्यापी परिस्थिति के बीचोबीच योग की संभावित भूमिका और संभावना का भी सही—सही अनुमान हो पाएगा। सवाल यह है कि विश्व—इतिहास का यह जो दौर अभी चल रहा है— जो पूर्णतः पश्चिम की प्रगतिवादी—मानववादी विश्वदृष्टि और चमत्कारिक वैज्ञानिक—तकनीकी उपलब्धियों से प्रेरित है— उसके बारे में हमारा वस्तुनिष्ठ आकलन क्या है? क्या हम मानव—जाति के तथाकथित विकास—क्रम की सबसे ऊँची लहर पर सवार हैं? किस अर्थ में, विकासवाद का सिद्धान्त आध्यात्मिक क्षेत्र पर लागू हो सकता है? मार्क्स का कम्युनिस्ट यूटोपिया यदि साधन और साध्य की अनर्थकारी बुनियादी विसंगति के चलते विफल हो चुका है, तो क्या श्री अरविन्द का अतिमानस के अवतरण का यूटोपिया उसकी जगह, उसके बदले कृतकार्य हो सकता है? लक्षण तो सारे विपरीत ही नज़र आ रहे हैं; सम्पूर्ण मोहभंग और सम्पूर्ण नकारवाद (निहिलिज़्म) का— सेक्युलरिज़्म के नाम पर पृथ्वी के सम्पूर्ण निर्देवीकरण (desacralization) का दृश्य ही हमारी आँखों के समक्ष उजागर है। हिन्दी साहित्य में आधुनिक भाव—बोध के पुरोध कवि अज्ञेय के शब्दों में इस त्रासदी को, विभीषिका को व्यक्त करें तो यही कहना होगा, कि ... "देवता अब भी जलहरी को घेरे बैठे हैं / पर, जलहरी में पानी सूख गया है / देवता भी धीरे—धीरे सूख रहे हैं / उनका पानी मर चुका है...।" तो, निर्देवीकरण से ग्रस्त और पावनता के बोध से विरहित इस आधुनिक सभ्यता के मरुस्थल में अतिमानस के अवतरण की संभावना कहाँ दीखती है? हाइडेगर के विश्व—विश्रुत मर्मज्ञ स्व. प्रो. जे.एल. मेहता के शब्दों में—

हम उस विरासत से पूरी तरह वंचित और बेदखल कर दिये गए हैं, जहाँ हम देवताओं की उपस्थिति महसूस करते थे। हम ऐसी दुनिया में पटक दिये गए हैं जिसमें पावन और प्रभासित जैसा कुछ भी शेष नहीं बचा। स्वयं आध्यात्मिकता का क्या अर्थ शेष रह जाता है, ऐसे परिवेश और युग में, जब सेक्युलर अवधारणाएँ, जो स्वयं यूनानी—ईसाई इतिहास की प्रसूति हैं, सर्वत्र बेखटके अपनी सम्पूर्ण निरपेक्षता और स्वयं पर्याप्तता का दावा कर रही हैं?

क्या ये चिंताएँ हमारे अपने भारतीय जीवन—संदर्भ में कुछ अप्रासंगिक या अतिरेकी नहीं लग उठतीं? जब हम अपने बचपन के परिवेश को याद करते हैं, जहाँ दिन का आरम्भ ही घर के देवस्थान में सुनाई देती, देवताओं को जगाने वाली घंटी की ध्वनि से होता था— उन

देवताओं को जो ठेठ स्थानीय से लेकर उच्चतम श्रेणी के विष्णु तथा उनके अवतार राम और कृष्ण और उनसे भी पहले शंकर महादेव, और सारी देवियाँ—जगदम्बाएँ भी हुआ करती थीं— देवी—देवताओं का एक समूचा प्रजातंत्र— सबके अपने विशेष त्यौहार... पर्व—प्रसंग। सभी सगे—सम्बन्धियों सरीखे हमारे एकदम निकट और जीवन्त... देवता, जिन्हें हम बरतनों की तरह मँजते देखते थे अक्सर...। और विशेष अवसरों पर रोज़ से ज़्यादा चमाचम... खुद अपनी तरह। वह बचपन का घर था, जिससे हम बहुत दूर छिटक गये हैं। किन्तु, न सही हम, हमारे भाई—बहन... और सगे—सम्बन्धी तो अभी भी यह दिनचर्या निभा ही रहे हैं। क्या वहाँ जाने पर और, स्मृति में ही नहीं, सचमुच भी वही उत्सवी भाव, वही सामूहिक राग— यीट्स के मुहावरे का emotion of multitude हम पर नहीं छा जाता? वैसा ही महाभाव, बल्कि उससे भी ज़्यादा जीवन्त और प्रत्यक्ष अनुभव काशी या प्रयाग या हरिद्वार में गंगा—तट पर कभी भी नहीं जाग उठता? और, यह मात्र स्मृति या उत्सवी भाव की ही बात नहीं है। अभी कुछ ही वर्ष पूर्व की तो घटना है वह, जब हमने पाण्डुरंग शास्त्री आठवले द्वारा प्रवर्तित स्वाध्याय आन्दोलन की विस्मयकारी उपलब्धियों को 'भक्ति को' एक सामाजिक शक्ति के रूप में लाखों लोगों को अनुप्राणित करते स्वयं अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखा था— एक बार नहीं, तीन—तीन बार... और इस आन्दोलन के प्रणेता आठवले जी को हम आमंत्रित बुद्धिजीवियों के बीच अपने अनुभवों के बारे में नितान्त सहज—आत्मीय और प्रभावशाली ढंग से बोलते देखा—सुना था।... "यह लौह—युग, यानी कलियुग"— आठवले जी की वह आवाज़ आज भी मेरे कानों में गूँजने लगी है— "इस कलियुग से अधिक उपयुक्त समय हो ही नहीं सकता भक्तियोग को जीने—बरतने के लिए"— आठवले कह रहे थे।... "भक्तियोग और गीता के कर्मयोग को।" और वे यँ ही नहीं कह रहे थे। हमने स्वयं देखा था कई बस्तियों में जाकर, मिल—बतिया कर उन मछुवारों और दूसरे भी लोगों से, कि कैसा आमूलचूल रूपान्तर घटित हो गया था उनके जीवन में कुछ ही बरसों के भीतर...; इस निहायत ही सामान्य और घरेलू से प्रतीत होते, मगर वस्तुतः असाधारण रूप से विरल—विलक्षण कर्मयोगी पाण्डुरंग शास्त्री आठवले जी की इस अनूठी कर्मयोगी पहल के फलस्वरूप। तभी तो कह रहे थे वे हम बुद्धिजीवियों से; कि... "अरे सतयुग या द्वापर होता, तो मेरे जैसे आदमी को पूछता ही कौन? ज़रूरत ही क्यों होती लोगों को मेरी? मैं याज्ञवल्क्य से भी बहुत—बहुत अधिक भाग्यशाली हूँ— सच मानिये।"

तो, वह निश्चय ही एक आश्वासनदायी, अद्भुत अनुभव था हम बुद्धिजीवियों के लिए... हमें अपने पुरखों की बुद्धिमत्ता का प्रत्यक्ष प्रमाण देने वाला। फिर क्यों हम उस प्रेरणादीप्त मनोदशा को— वहाँ से लौटने के बाद यथावत् कायम नहीं रख सके? क्यों फिर से स्खलित हो गए— उसी आत्मावसाद में? जैसे वह आँखों देखा यथार्थ नहीं, महज़ एक सपना रहा हो। आखिर हम सिर्फ़ हमारे मन पर पड़े संस्कार, या स्मृतियाँ, या बाल्यकालीन परिवेश तो हैं नहीं। हमारा

जो वर्तमान समाज—परिवेश और समकालीन बौद्धिक वातावरण है, वही तो सबसे ज्यादा हमारी चेतना को प्रभावित करेगा। समाज के सबसे विचारप्रवण और शैक्षिक—सांस्कृतिक गतिविधियों में अग्रणी लोग ही तो, जिनसे हमारा रोजमर्रा का संग—साथ रहता है, वही तो हमारा परिवेश भी हैं : “यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तेदेवेनरोजनः/ स यत्प्रमाणं कुरुते तदेवेतरोजनः।” स्वयं गीता इस कड़वी सचाई को स्पष्ट अभिव्यक्त करती है कि नहीं? श्रेष्ठजनों, बौद्धिकों के बीच कैसा क्या संवाद चला करता है, वह भी हमारे ज्ञान और आचरण को निर्धारित करता है कि नहीं? इसी जीवन—यथार्थ की यथातथ्य समझ ही हमारे एक अत्यन्त प्रबुद्ध अग्रज को यह मानने के लिए अन्तर्विवश करती है कि,— चूँकि यह पारस्परिक संवाद ही किसी कालखण्ड में एक समाज की मूल्य—चेतना को निर्धारित और अभिव्यक्त करता है, इसीलिए हमें उसी के एक अंग—‘भाष्य—कर्म’— को अत्यन्त गंभीरतापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। प्रो. मेहता के शब्दों में यह भाष्य—कर्म याकि ‘हर्मेन्युटिकल एन्डीवर’ ही एकमात्र वह प्रभावी मार्ग और जरिया है, जिसके बूते हम खुद अपनी परम्परा की आधार स्तम्भ सरीखी कृतियों को, उनमें अन्तर्निहित संजीवनी शक्ति को, और अर्थ—समृद्धि को फिर से अपने लिए उपलभ्य और कारगर बना सकते हैं।

संभव है, इसे एकमात्र मार्ग न भी माना जाय। परन्तु इसमें तो कोई सन्देह नहीं, कि यह उन कई मार्गों में से एक मार्ग तो है ही, जो हमें आज के समय में आज के जीवन—संसार के लिए उस ‘पावनता—बोध’ की थाती को फिर से उपलभ्य बना सकता है। एक दूसरा मार्ग श्रेष्ठतम (नए—पुराने दोनों) कवियों की वाग्विभूति को स्वायत्त करना भी है। जिसका आधुनिक काल में एक अत्यन्त श्रेष्ठ और मार्मिक उदाहरण दार्शनिक हाइडेगर द्वारा विख्यात जर्मन कवि ‘ह्योएल्डरलिन’ के काव्य का मूल्यांकन है। भारत की परम्परा में दोनों प्रक्रियाओं को समान महत्त्व दिया जाता रहा है : शब्द—ब्रह्म की सारस्वत साधना एक तरफ, और ध्यानयोग की मौन गहन प्रक्रिया द्वारा चेतना के उन्नयन—रूपान्तरण की साधना दूसरी तरफ। तो, हमारे जैसे घोर अन्तःसंघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व में पड़े हुए साहित्यकर्मी बौद्धिकों को जो भी जैसा भी प्रेरणादायी समाधान इन दो समान रूप से हमें अपनी ओर खींचने वाली प्रवृत्तियों (योग—साधना और वाक्—साधना) के बीच चाहिए, वह एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध के विकास और परिपाक के स्तर पर ही चाहिये। हमने उच्चतम कविकर्म से मिल सकने वाले आलोक का उल्लेख भी अभी—अभी इसी सिलसिले में किया था। महान् कविता से मिल सकने वाला यह ज्ञान भी हममें पावनता—बोध को जगाने—उकसाने में सचमुच सहायक—प्रेरक होगा। महाकवि तुलसीदास ही, मसलन, अपने महाकाव्य का आरम्भ किस तरह करते हैं, तनिक सुनिए :

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल—थल—नभ वासी।।
सियाराम मय सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।

मेरी तरह आप सुधीजनों-ने भी विश्व के प्रसिद्ध महाकाव्य कई पढ़े होंगे। मैं अपनी कहूँ तो— मुझे तो उनमें से किसी में भी ऐसा उदात्त और फिर भी सर्वजन सुलभ आवाहन दिव्य और पावन सत्ता का नहीं मिला। नर—नारायण के सम्बन्ध की वास्तविकता का ऐसा परम्परागत और फिर भी सर्वथा नया, रोमांचित कर देने वाला आवाहन और मात्र मानववादी नहीं, बल्कि चराचरवादी—चराचरमूलक, चराचर में ओतप्रोत दिव्य और पावन के ऐसे गहरे सम्बन्ध को प्रत्यक्ष मूर्त कर देने वाला स्वर कितना विरल—दुर्लभ है, कहने की बात नहीं। जैसा कि जॉर्ज स्टाइनर का कहना है— हाइडेगर सिर्फ गहरा दार्शनिक ही नहीं, हमारे समय में काव्य का सबसे गहरा मर्मी पाठक था— यह ह्योएल्डरलिन के काव्य की उसकी मर्मग्राही परख से पता चलता है। उसी का यह भी बड़ा मर्मस्पर्शी कथन याद आ रहा है, कि “कवि उस दुर्मेघ रहस्यमय पावन दिव्य शक्ति और हम सामान्य मानवों के बीच सबसे सुदृढ़ सेतुबंध रचने वाला मध्यवर्ती है, जो अपनी सभ्यता के लिए वरदान स्वरूप सिद्ध होता है। स्वयं हाइडेगर की दृष्टि में देवता वे मध्यवर्ती शक्तियाँ ही हैं— जिन पर कवि अवलम्बित होता है, और, जो स्वयं कवि पर अवलम्बित होते हैं। क्या यह बात हमें वैदिक भाव—बोध का, ‘यज्ञ’ के मूल में निहित अनुभूति का स्मरण नहीं जगाती? यह न तो आकस्मिक है, न अकारण, कि हाइडेगर के मर्मग्राही विशेषज्ञ मेहता जी अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में वेद के सर्वथा मौलिक भाष्य में प्रवृत्त हुए— एकदम नवीन खोज में। इस संदर्भ में उनके अपने अनुभव की साखी भी उन्हीं के शब्दों में सुन लेना हमारे लिए ज़रूरी होगा। वे कहते हैं एक जगह,—

वैदिक वाङ्मय की व्याख्या में दो दुर्लभ बाधाएँ हैं : एक तो वे मज़हबी और सांस्कृतिक—नृतात्त्विक पूर्वग्रह, जो दो सदियों से पाश्चात्य वैदिक विद्वत्कर्म के मूल में कार्यरत रहे हैं; और, दूसरे, वे दर्शनशास्त्रीय पूर्वधारणाएँ, जिन्होंने पूर्वोक्त मज़हबी पूर्वाग्रहों से कम अनर्थ नहीं उपजाया है। उस अनर्थ के मूल में हैं— पाश्चात्य अवधारणाओं को एक नितान्त भिन्न परम्परा पर बिना सोचे—समझे आरोपित करते रहने की अहम्मन्य कुटेव। कहना मुश्किल है किसने ज़्यादा कहर ढाया है इन दोनों में।

मेरे समानशील मित्रो! अब मैं आपके साथ इस संवाद को एक ऐसी अलग दिशा में मोड़ने की प्रेरणा अनुभव कर रहा हूँ, जो हो सकता है आपको आकस्मिक विषयान्तर सरीखा लगे; किन्तु मेरा ख्याल है, वह अन्ततः आपको भी उतना ही प्रासंगिक और विषय के मर्मस्थल में सीधी पैठ करने—कराने वाला उपक्रम लगेगा। कम से कम ऐसा विषयान्तर, जो इस तरह की प्रश्नाकुलता में अनिवार्यतः उपजने वाली उलझनों में निहित अतिबौद्धिकता से अर्थात् स्वयं एक तरह की विषयासक्ति के प्रलोभनों से उबारते हुए अपने हृदय की बात कह—सुन पाने सरीखा अनुभव संभव कर सके।

निस्संदेह, अपनी जड़ में तो यह पावनता जनित बोध के विलोप की समस्या— मनुष्य के ‘सोचने’ की क्रिया को उसके ‘होने’ के यथार्थ से विच्छिन्न करके ही अपनी प्रगति का रथ

हाँकने वाली पाश्चात्य सभ्यता के इतिहास की ही उपजाई हुई प्रतीत होती है— देकार्त का 'आई थिंक देयरफोर आई एम' सूत्र, जिसका— स्वयं आधुनिकता का भी— प्रस्थान बिन्दु क्या, परिपाक—बिन्दु ही लग उठता है। किन्तु भारत जैसे देश की धर्मप्राण संस्कृति भी— जिसे महान् आधुनिक कवि यीट्स ने 'रेलिजन ऑव दि सेल्फ' (आत्मा का धर्म) निरूपित किया है,— वह भी उसके विश्वव्यापी संक्रामक से अछूती नहीं रह सकती— यह भी हम देख चुके हैं। यह भी, कि मात्र एक परम्परागत शब्दावली का कवच ओढ़कर— जिसके 'अर्थ' को हमने अपने नए तप से— एक अभिनव अध्यवसाय के बल—बूते नहीं कमाया— अपने को सुरक्षित—अवेध्य मान लेना आत्म—प्रवंचना ही है। हमें पावनता के अपने पुरातन बोध को— पारम्परिक आत्म—बोध यानी आत्म—विज्ञान और परमात्म—विज्ञान को भी एकदम नए सिरे से अर्जित करना होगा। तभी हम 'पावनता के पुनर्वास' जैसी चेष्टा और उक्ति को— जो प्रस्तुत व्याख्यान की विषय—वस्तु है— सचमुच चरितार्थ करने की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं।

अब, जैसा कि अतिमानस के अवतरण की संभावना के प्रतिपादक श्री अरविन्द का भी मानना है, प्रकृति अपने विकास—क्रम में जीव की प्राणिक सत्ता को जहाँ तक ले आई है— मनुष्य तक— वहाँ से आगे वह उसे नहीं ले जा सकती। वहाँ से आगे उसे केवल मानव—चेतना का एक अभूतपूर्व पुरुषार्थ ही ले जा सकता है— जैसा कि स्वयं अरविन्द के महाकाव्य 'सावित्री' की शुरुआत में ही प्रयुक्त मुहावरे— 'ऐडवेंचर ऑव कांशंसनेस' से व्यंजित होता है। चेतना मनुष्य में ही आत्मचेतन होती है और तभी उसकी साधना और संभाव्य सिद्धि के आयाम भी तभी उसी में उजागर होते हैं। यह अपनी सीमाओं को लाँघने की प्रेरणा सृष्टि के मूल में ही, और उसकी विकास—प्रक्रिया में भी अंतर्निहित होनी चाहिये— अर्थात् उसी प्रक्रिया में, जिसकी परिणति मनुष्य में हुई, जो कि मात्र भोक्ता ही नहीं, प्रत्युत, साक्षी और आत्म—चेतन चेतना है। अर्थात् 'आत्मा' और परम आत्मा का ही अंश होने की संभावना से युक्त है। आत्मा—यानी क्या? सर्वाधिक प्राचीन और सर्वाधिक प्रचलित इस शब्द का अभिप्राय क्या है? क्या यह महज एक रुढ़ अभ्यास या कि खब्त भर है? या कि हमारे मनुष्य होने के अनुभव का ही स्वतः प्रमाण आख्यान और अभिव्यक्ति? क्या 'आत्मा' 'मैं हूँ' इस आद्य—प्राथमिक तथ्य और बोध का सातत्य है? इस व्याख्यान के प्रारम्भ में ही हमने जो तीसरा उद्धरण टाँका था, वह तो— लगता है— 'आत्मा' को इसी तरह परिभाषित कर रहा है। सीधा शब्दार्थ उसका यही तो है, कि... "यह पुरुष, जो सुषुप्ति में ब्रह्म—भाव को प्राप्त हो जाता है, स्वप्न में बगैर इन्द्रियों के, और जागृतावस्था में इन्द्रियों से विषयों को भोगता हुआ निरन्तर वर्तमान रहता है, वह इसीलिए 'आत्मा' कहलाता है। आदिपुरुष मनु ने अपने 'होने' को कैसे अनुभव किया? 'मैं हूँ'— यह वरदान सदृश क्यों लगा गूँजने कानों में/ मैं भी कहने लगा मैं रहूँ/ शाश्वत नभ के गानों में"... आधुनिक हिन्दी के महाकाव्य 'कामायनी' का मनु कहता है। किन्तु क्या हम मनु के वंशज— आज के मानव

जीव— अपने 'होने' को उस तरह अनुभव करते हैं? हमारी हालत तो उससे कहीं बदतर है जिसका पूर्वाभ्यास कामायनीकार जयशंकर प्रसाद ने ही झलका दिया था :

“ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है; इच्छा क्यों पूरी हो मन की?
एक—दूसरे से न मिल सके, यह विडम्बना है जीवन की।”

सचमुच, क्या हम कभी भी अपने आप में प्रतिष्ठित होते हैं? बेशक, हम जीते तो इसी भ्रम में हैं, हममें से कोई भी यह मानने को तैयार न होगा कि वह एक स्वचालित-यंत्र भर है, मगर किसी भी दिन— आज और अभी आप ज़रा अपने ऊपर यह प्रयोग कर देखें। अपनी पल—प्रतिपल बदलती मनःस्थितियों और परिस्थितियों में क्या—क्या हरकतें आप करते हैं— हर हरकत का तुरन्त— फोटू खींच डालें— तब पता चलेगा कि आप किस कदर बिखरे हुए, और अपनी आदतों और जड़ीभूत संस्कारों से परिचालित यंत्र हैं। आपकी हर क्रिया क्रिया नहीं— मात्र, प्रतिक्रिया है। तब आप देखेंगे कि आप किस तरह उन्हीं—उन्हीं बातों—हरकतों—मुद्राओं को यंत्रवत् दुहराते रहते हैं मानो— अपने ही कर्म—भोग की लाचार पुनरावृत्तियों से बँधे। कैसा दुश्चक्र है यह! सुनी ही होगी आपने 'हिस्टरी' के बारे में वह प्रसिद्ध उक्ति एक नामचीन इतिहासकार की ही— कि “एकमात्र सबक जो आदमी अपने इतिहास से सीखता है, वह यही है, कि आदमी अपने इतिहास से कभी भी कुछ नहीं सीखता।” मानव—समुदायों पर भी यह बात उतनी ही लागू होती है जितनी मानव—व्यक्तियों पर। क्या ही विडम्बना और क्या ही विरोधाभास है यह— सोचिए ज़रा— कि जो चेतना हमें मुक्ति का पात्र बनाती है, वही हमारी कैद बन जाये? इसका मतलब यही न हुआ कि हम सचमुच, वास्तव में चेतन यानी आत्म—चेतन कभी होते ही नहीं। मानो हमारी चेतना सिर्फ उस पर पड़ी असंख्य छापों की ही निरीह पुनरावृत्तियों का सिलसिला भर हो।

दूसरी—ओर, इस तथ्य को भी कैसे नकारा जा सकता है कि यही मनुष्य अनवरत विकास करता आया है। अपने बुद्धि—बल से उसने हर क्षेत्र में अपनी क्षमता का विस्तार किया है। प्रकृति में निहित ऊर्जा—स्रोतों की खोज और भरपूर दोहन करते हुए उसने प्रकृति से स्वतंत्र होकर अपनी सभ्यता और संस्कृति का निर्माण और विकास किया है। यहाँ तक, कि तमाम सांस्कृतिक विविधताओं के परे मानव—मात्र की एकता का स्वप्न भी उसी ने देखा है और उसे चरितार्थ करने का भी अनवरत प्रयत्न वह करता रहा ही है। 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म'। वह क्या है जो उस अनादि—अनन्त परात्पर ब्रह्म को इस सादि—सान्त मानव से— इस आत्म—चेतना के मनुष्य रूपी अधिष्ठान से जोड़ता है? तो, इस मनुष्य—रूपी आत्मचेतन अधिष्ठान की इस ब्रह्माण्ड में कोई भूमिका भी अवश्य होनी चाहिए। वह भूमिका क्या है? ब्रह्माण्ड की संचालक महाशक्ति ने— शंकराचार्य के शब्दों में कहें, तो 'जगत्साक्षिणी संवित् चेतना' ने अपनी सर्वाधिक

परिष्कृत ऊर्जा उसी पर निष्ठावर की है। तभी तो वह, 'मैं हूँ' तो 'मैं कौन हूँ' जैसे प्रश्न के सम्मुख स्वयं को खड़ा पाता है। तो, इसका मतलब यही न निकला कि उस सृष्टि-विधायक परात्पर (और सर्वभूतान्तरात्मा भी) सत्ता के साथ- जिसे परमात्मा या 'नारायण' भी कहा जाता है, उस नारायण के साथ इस 'नर' की सत्ता एक बहुत ही खासुलखास स्पन्दात्मक सम्बन्ध में जुड़ी होनी चाहिए। सृष्टि का कोई उद्देश्य, कोई प्रयोजन होना चाहिए जिसकी पूर्ति इस 'नर' की आत्म-चेतना के सहयोग की अपेक्षा रखती है। अब यूँ तो सभी विश्वधर्मों में- उनके मूलोद्गम में- मसलन Essene Christianity में भी इस नर-नारायण सम्बन्ध के संकेत मिलते हैं, किन्तु भारतीय वाङ्मय में इसकी जैसी सुदृढ़-तात्त्विक और अटूट अभिव्यक्ति मिलती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ लगती है। जीव और ब्रह्म, आत्मा और परमात्मा की मौलिक एकता का ऐसा उद्घोष ठेठ तत्त्वमीमांसीय धरातल पर और कहाँ मिलेगा- कुछ गिने-चुने अपवाद स्वरूप रहस्य दर्शियों को छोड़कर? यूँ उन्हें मुख्यधारा से बहिष्कृत भी कर दिया जा सकता है 'कुफ्र' का इलजाम लगाते हुए। बहरहाल...।

समस्या मगर यहाँ वही उठती है जिसका उल्लेख अभी ऊपर हुआ है। जैसा कि हमारी हिन्दी के एक मौलिक तत्त्व चिन्तक-दार्शनिक यशदेव शल्य का कहना है- "हम जगत्-भाव को प्राप्त चैतन्य हैं। पर यह भाव चेतना के लिए अनिवार्य नहीं है।" सर्वथा सत्य कथन है यह; किन्तु हमारी विडम्बना यह है कि हम चौबीस घण्टे इसी जगत्-भाव में निमग्न रहते हैं। चौबीसों घण्टे। उसी से अपने को 'आइडेंटिफाइ' करते रहते हैं। उससे अपने को विलग करके अपने वास्तविक स्वरूप को खोजने की विकलता कदाचित् ही कभी महसूस करते हैं। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि अपने एक केन्द्रीय और स्थायी 'मैं' की क्षणिक कौंध भर हममें कभी-कभी जागती है; पर वह टिकाऊ नहीं होती, तुरन्त बिला जाती है। हम अपने उस आत्मस्वरूप को भूले रहते हैं, जो 'मैं हूँ' की निरन्तर और अकाट्य प्रतीति का मूलाधार है। इसका अर्थ यही हुआ कि हममें 'आत्मा' एक संभावना के स्तर पर तो विद्यमान रहती है, पर अधिकांशतः हम उस संभावना से बहुत-बहुत निचले धरातलों पर ही जीते चले जाने के अभ्यस्त हो रहते हैं। दूसरी ओर, उक्त नर-नारायण के पारमार्थिक अद्वैत की जाग्रत-जीवन्त अनुभूति भी इसी हाड़-मांस की देह के माध्यम से मनुष्य ने ही कमाई है। तभी तो गीता में कहा गया है कि-

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिदयतति सिद्धये।

यततामपि सिद्धानाम् कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

अर्थात् "हजारों में कोई एकाध ही आत्म-साक्षात्कार या परमार्थ सिद्धि के लिए यत्नशील होता है। और उन यत्नशील साधकों में भी कोई बिरला ही वास्तव में मुझे जान पाता है।" यह कौन कह रहा है? किससे कह रहा है? यह वह कह रहा है जो पुरुषोत्तम परमात्मा है,

योगेश्वर है; और उससे कह रहा है, जो स्वयं भी बिरलों की ही श्रेणी में आता है, जो उस पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से भी यह कहलवा लेता है कि 'भक्तोऽसि मे, सखा चेति?' तू मेरा भक्त और अनन्य सखा है। तनिक इस नर-नारायण सम्बन्ध पर- निराले ही सख्य-सम्बन्ध पर- ध्यान दीजिए। 'नर' और 'नारायण' जितने निकट और घनिष्ठ साहचर्य को व्यक्त करने वाले नाम हैं, वैसे ही 'पुरुष' और 'पुरुषोत्तम' भी। क्या इससे 'नाम-सुमिरन' का एक सर्वथा नूतन अर्थ प्रगट नहीं होता? नाम-सुमिरन- अर्थात् आत्म-स्मरण, 'सेल्फ-रिमेम्बरिंग'। अर्थात् वह आत्म-ज्ञान, जो परमात्म-ज्ञान का ही पर्याय नहीं, तो उसकी अनिवार्य पूर्व-प्रतिज्ञा तो अवश्यमेव है। जितने भी ज्ञान-विज्ञान हैं, उनमें सर्वाधिक दुस्साध्य। किन्तु इसीलिए तो वह सर्वाधिक मूल्यवान्, सर्वाधिक स्पृहणीय 'ज्ञान' ठहरता है, जिसके अभाव में बाकी सारे ज्ञान अज्ञान सदृश लगने लगते हैं। ऐसे 'ज्ञान' तक पहुँचने के लिए जाने कितनी सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती होंगी। जबकि अधिकांश लोग तो शुरुआती सीढ़ियों पर ही हिम्मत हार जाते होंगे। आरम्भ में ही 'मैं कौन हूँ' इस प्रश्न के उत्तर में बीसियों 'मैं' अपना-अपना दावा पेश करने लगेंगे। दरअसल, जैसा कि अभी हाल आरमेनिया में उपजा और दुनिया भर में धूम मचा देने वाला चमत्कारी गुरु जी.आई. गुर्जियक भी अपने अनजाने ही हमारे जयशंकर प्रसाद आदि के सुर में सुर मिलाता हुआ कहता है- हमारे यानी त्रिआयामी मनुष्य के- 'होने'-करने के तीन प्रमुख केन्द्र हैं, शारीरिक-स्नायुविक, भाववेगात्मक, और, बौद्धिक। तो, अनिवार्यतः हमारा व्यक्तित्व उसी अनुपात में सुगठित, सामंजस्यपूर्ण और आत्म-प्रतिष्ठित कहलायेगा, जिस अनुपात में ये तीनों केन्द्र पूरे आपसी ताल-मेल के साथ हमारे भीतर सक्रिय होंगे, यानी परस्पर सहयोगी और ऐक्योन्मुख होंगे। मगर हमारे वास्तविक रोजमर्रा के जीवन में वस्तुस्थिति ठीक इसके विपरीत है। तीनों केन्द्रों के बीच आपस में कोई ताल-मेल नहीं बन पाता। कुल मिलाकर- 'कामायनी' के कथनानुसार वस्तु स्थिति यही, कि-

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की?
एक-दूसरे से न मिल सके, यह विडम्बना है जीवन की।

परन्तु यदि यह विडम्बना है, तो उसका कोई उपचार भी तो होना चाहिये। क्या होगा वह उपचार? क्या हम मानव जीव केवल भोक्ता ही हैं, और हमेशा भोक्ता ही बने रहेंगे? या कि कभी अपने भोक्तापन के साक्षी भी बनेंगे? यूँ थोड़ा-बहुत साक्षी तो हम होते ही हैं अपने कर्मों के, अपने भोग के। नहीं होते तो वह विडम्बना, जो हमारे साथ घटती है, उसे भी कैसे पहचान या देख पाते? देख पाते हैं, इसीलिए तो उसके इलाज के लिए जो कुछ करणीय हैं, वह हमें करना चाहिए। पहले तो फिलहाल तो हमें उसे लगातार 'देखना' है- सतत आत्म निरीक्षण का अभ्यास डालना है। भोक्ता की बजाय इस साक्षी का ही क्षेत्रफल बढ़ाना है। रोजमर्रा की

मशीनी प्रतिक्रिया के दुश्चक्र को तोड़ना है। उस कर्म-शृंखला को तोड़ना है जिससे हम जाने-अनजाने निरीह ढंग से बँधे हुए हैं। उस तात्कालिक प्रतिक्रिया को तुरन्त देखकर उसे जहाँ का तहाँ स्थगित करके ही हम अपनी अभ्यास जनित जड़ता पर नियंत्रण कर सकते हैं। इसी तरह अपने इस साक्षी-भाव को विकसित करते हुए ही आप अपने बौद्धिक केन्द्र को, और भाविक-प्राणिक केन्द्रों को भी अधिकाधिक चैतन्य-स्फूर्त होते हुए पाएँगे। पहली बार वे तीनों केन्द्र सचमुच एक-दूसरे से जुड़ेंगे। इसी आत्म निरीक्षण, इसी साक्षी चेतना की सक्रियता के फलस्वरूप आप धीरे-धीरे अपने उस केन्द्रीय 'मैं' की ओर अग्रसर होते जाएँगे। अलकी बोध-शक्ति, इच्छा-शक्ति, क्रिया-शक्ति तीनों जागकर एकाग्र समन्वित ढंग से काम करने लगेंगी। ऊर्जा का अपव्यय रुक जायगा, तीनों केन्द्रों की एकाग्र ऊर्जा तब फिर आगे जाकर उन उच्च स्तर स्रोतों से जुड़ेगी जो आपकी उच्चतर भाविक और बौद्धिक ऊर्जा के स्रोत हैं और आपके मस्तक में, या उसके ठीक ऊपर अवस्थित हैं। अब यँ तो ये उच्चतर केन्द्र भी आपके अनजाने सदा सक्रिय रहते हैं, किन्तु उनसे आपका कोई तगड़ा सम्बन्ध यानी जुड़ाव ही नहीं बन पाता। दरअसल वह ध्यान लभ्य वस्तु है, साक्षात् अनुभव की। उससे सम्पर्क होते ही आपको अनुभव होगा कि कोई ऊर्जा-तरंगें उच्चतर केन्द्रों से उतर कर आपके भीतर प्रवेश करना चाहती हैं, कर रही हैं। आप तो बस पूर्णतः समर्पित हो जाइए उनके प्रति। क्या पता, जिसका उल्लेख गीता करती है— 'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्श मत्यन्तंसुखमश्नुते— वह— या कम से कम उसका पूर्वाभास आपको होने लगे।

मित्रो! अब तक आप उकता चुके होंगे कि यह क्या बकवास हो रही है? सोचते होंगे हम काहे को उठाएँ यह जहमत? क्यों अर्पनी बँधी-बँधाई दिनचर्या में व्यर्थ का विक्षेप आमंत्रित करें? .. पर-उपदेश कुशल बहुतेरे!... कौन कहता है हम एक मशीनी रूटीन के बन्दी हैं? आप भी, हमें पता है, वही रूटीन निभा रहे हैं। तब फिर काहे को यह साक्षी-भाव और आत्मनिरीक्षण की अलामात हम पर थोप रहे हैं? हमारे हर 'एक्शन' को आप 'रिएक्शन' करार दे रहे हैं। यानी हमें 'रिएक्शनरी' बता रहे हैं। आप होंगे रिएक्शनरी। हम तो पूरे होशोहवास में अपनी जिम्मेदारियाँ निभाते हुए जैसा जो भी थोड़ा-सा लुत्फ़ जिन्दगी की न्यामतों का उठाने का हक़ मिला है हमको, वह उठा रहे हैं। अब आप हमसे कह रहे हैं— "ठहरो, अपनी इन सहज-स्वाभाविक हरकतों को जहाँ का तहाँ ठप्प कर दो— सिर्फ़ देखो, देखते रहो उन्हें साक्षी की तरह— बिना उनमें दिलचस्पी लिए।" अरे, वैसे ही क्या कोई कम मुसीबतें हैं रोज़मर्रा की हमारी जिन्दगी में, जो हम यह नई मुसीबत मोल लें? अनवरत आत्म-निरीक्षण की। आप फरमाते हैं कि आधुनिक युग के एक तर्फा बौद्धिक विकास ने आदमी की त्रिआयामी समग्रता को कुंठित कर दिया है। मगर आप यह क्यों नहीं देखते कि इसी विकास ने कैसे अभूतपूर्व अवसर भी जुटा दिये हैं जो हम सबकी पहुँच के भीतर हैं, सिर्फ़ मुट्ठी भर सम्पत्तों के लिए नहीं। तो, ऐसे में

प्रत्यक्ष लाभ को छोड़कर सुनी-सुनाई परोक्ष बातों के पीछे अपनी जान हलकान करना— यह तो कोई समझदारी नहीं। क्यों उठाएँ हम यह जहमत और जोखिम, जिसके नतीजों के बारे में हम कुछ नहीं जानते?

अब, इस 'क्यों?' का उत्तर तो हम आपको दे नहीं सकते। वह तो उस रास्ते पर— यानी जगत्साक्षिणी चेतना के रास्ते पर चलकर ही हासिल हो सकता है। महज एक भोक्ता—उपभोक्ता के तर्क—वितर्क से नहीं। यदि यह सब आपकी दृष्टि में अनर्थ है, तो बताइये ना, कि फिर अर्थ कहाँ है? क्या बिना अर्थ की खोज किये, यंत्रवत् एक रूटीन जीवन जीते चला जाना आपको अपनी मानवीय गरिमा के अनुरूप लगता है? 'जीवन सहस्रमुख भय और शोक है'— ऐसा आपका 'महाभारत' कहता है और सिर्फ़ कहता ही नहीं, यथावत् आपको दिखा भी देता है उसे। मगर, वहीं अन्यत्र यह उसका विरोधी अनुभव भी तो उचारा गया है कि "जीवन अलभ्य वरदान है, अखण्ड सौभाग्य है।" क्या ये दोनों बातें अनुभव—प्रसूत और अपनी—अपनी जगह सच नहीं हैं? हमने अद्वैत वेदान्त के उल्लेख से इस बातचीत की शुरुआत की थी ना? तो, सुनिए उसका सर्वोच्च दार्शनिक शंकराचार्य क्या कह रहा है— 'मनीषापंचकम्' में...

‘शश्वन्नश्वरमेव विश्व मखिलं निश्चित्य वाचा गुरोः
नित्य ब्रह्म निरन्तरं विमृशता निर्व्याजशांतात्मना
भूतं भावि च दुष्कृतं प्रदहता संविन्मये पावके
प्रारब्धाय समर्पितं स्ववपुः नूनं मनीषा मम।’

अर्थात्, चेतनारूपी अग्नि में निरन्तर अपने अतीत और भविष्य की बन्धनकारी कर्म शृंखला की आहुति देते रहना, निर्भ्रान्त शान्तिपूर्वक इस नश्वर जगत् के सारे प्रलोभनों की असलियत जानते—समझते हुए नित्य ब्रह्म के विमर्श में लगे रहना... जो नियत है, उसका अकुण्ठ स्वीकार करना... क्या यह निरा भाग्यवाद है? याकि बौद्धिक—भाविक परिपक्वता?... अलावे इसके, क्या यह मात्र एक व्यक्तिगत छुटकारे की बात है? याकि जीवन का उसकी समग्रता में यथातथ्य स्वीकार तथा ऋण—शोध? जीवन का ही नहीं, जीवन के स्रोत और चरम लक्ष्य स्वरूप उस नित्य सत्ता का भी ऋण—शोध? जीवन आखिर सिरजा ही इसीलिए तो गया है : इसी मुक्ति चेष्टा के 'ऐडवेंचर' के लिए। सवाल सिर्फ़ हमारे व्यक्तिगत या सामाजिक 'स्व' का नहीं है। सवाल हमारे 'होने' के— यानी मनुष्य—भाव के— सम्पूर्ण यथार्थ का है। मात्र एकांगी तार्किक विचारणा का, या देहात्मबुद्धि— जगत्भाव का, यानी 'आइडेंटिफिकेशन' में ही लिथड़े रहने का नहीं। सवाल 'मैं हूँ'— इसलिये 'मैं सोचता भी हूँ' का है; न कि बकौल देकार्त, 'मैं सोचता हूँ, इसलिए 'मैं हूँ' का। असली चुनौती तो यही है— शरीर में घर बनाकर उठी हुई आदतों की गुलामी की— जिससे रिहाई तब तक नामुमकिन है, जब तक हम उसके बरक्स एक उच्चतर

ऊर्जा के आवाहन और अवतरण की प्रक्रिया से नहीं जुड़ते। हम बड़ी आसानी से देवासुर—संग्राम और अमृत—मंथन की कथाओं को पौराणिक गल्प मानके छुट्टी पा जाते हैं। परन्तु क्या हम सचमुच जानते हैं, जीते हैं उसके जीवन्त मर्म को? वह मर्म, जिसे गुर्जियफ़ जैसे पुरुषार्थी चेतना के धनी लोगों ने हमें सीधे दो—टूक आज की भाषा में बताने और पहचानने की तपस्या की थी। गुर्जियफ़ ही क्यों, श्री अरविन्द ने भी— अपने ढंग से। गुर्जियफ़ जिसे 'चेतना—मार्ग' कहता है, उसी को तो हमारे यहाँ जैसा हम ऊपर पहले ही कह चुके हैं— गुर्जियफ़ के ही समकालीन श्री अरविन्द ने 'दि ऐडवेंचर ऑफ़ कांशसनेस' कहा है। श्री अरविन्द भी तो गुर्जियफ़ की तरह समग्र मानव—जीवन के आमूलचूल रूपान्तरण पर जोर देते हैं। पर वह बिना उच्चतर ऊर्जा की सहायता के संभव नहीं। जिसे इसी बीसवीं सदी में काशी के विशुद्धानन्द परमहंस 'महाशक्ति' और 'मा' कहते हैं— उसी को हमारे असली 'मैं' यानी आत्मा का स्रोत बताते हुए। "बिना मा के जीवन्त स्पर्श के तुम एक पग भी आगे नहीं बढ़ा सकते"— वे कहते हैं। पर यह भाषा उनकी हम बुद्धिजीवियों को कैसे पकड़ेगी बिना उस स्पर्श की साक्षात् अनुभूति के? तो, लीजिये गुर्जियफ़ की पट्टशिष्या मदाम सॉलज़मन की भाषा में सुन लीजिए उसी बात को। मदाम कहती है—

Without relationship with the Higher Energy, life has no meaning. Higher Energy is your permanent self; but you have no connection with that.

क्यों? आखिर क्यों हैं हम इतने बिखरे हुए? इसीलिए ना, कि हम अपने स्वरूप में कायम रह ही नहीं पाते। स्वरूप—विस्मृति में 'ही जीते हैं हम। 'पातंजल योग' में उल्लिखित 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' हमारे लिए महज एक किताबी सूत्र भर रहा आता है। ऐसे में सचमुच टिकाऊ और कारगर 'पावनता' और दिव्यता की चेतना कहाँ से और कैसे संभव हो? गुर्जियफ़ जो उपाय सुझाता है, वह उसी के शब्दों में यह है, कि 'रिमेम्बर योर सेल्फ़ ऑलवेज़ ऐंड ऐवरीव्हेर'। याद कीजिए, अपनी गीता भी तो ठीक यही न कहती है! 'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च' का भला और क्या अर्थ है? इसी जगह हमें श्री अनिर्वाण द्वारा रेखांकित ध्यानलभ्य 'संसेशन' को हृदयंगम करना होगा। जो स्वतंत्र रूप से मदाम सॉलज़मन के शब्दों में इस तरह अभिव्यक्त हुई है : सुन लीजिए : बहुत मुद्दे की बात है यह। मदाम कहती है—

'इट इज़ नैसेसरी टु मेंटेन अ कांटेक्ट बिटवीन दि माइण्ड ऐंड दि बॉडी, दैट इज़ अ संसेशन। दैट परमिट्स ऐन ओपनिंग फॉर द इनर्जी व्हिच कम्स फ्राम दि हेड। व्हाइल वन इज़ इन रिलेशनशिप विद दैट इनर्जी, देयर इज़ फ्रीडम। अदरवाइज़ देयर इज़ ऑलवेज़ सम फियर'।

यह कथन जहाँ हमें गीतोक्त ध्यानयोग के मर्म में सीधे प्रवेश दिलाता है, वहीं दूसरी

•ओर वह मेरे दिमाग में कभी से जमी हुई महात्मा मंगतराम की इस मर्मोक्ति से भी अनायास ही जुड़ जाता है कि "जो लोग साधना विहीन होके सिर्फ किताबें पढ़के अभय प्राप्त करना चाहते हैं, वे कायर हैं और अपना अमूल्य समय व्यर्थ ही गँवा देते हैं।" जब तक हम अपनी इस स्वरूप-विस्मृति की त्रासदी और विडम्बना को, और अर्जुन जिसे 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' कहता है, उस स्मृति को यथातथ्य हृदयंगम करके जीना नहीं सीखते, तब तक हमारे उद्धार की संभावना संदिग्ध ही रही आएगी। गाँधी जी की 'आश्रम भजनावली' की पहली ही प्रार्थना है— "प्रातः हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वं । सच्चित्सुखं परमहंस गतिं तुरीयम् ।" हमें रटा हुआ है वह कब से! पर क्या हम उसे वस्तुतः समझते हैं? क्या यह यूँ ही है कि 'ओल्ड टेस्टामेंट' और 'न्यू टेस्टामेंट' दोनों में परमपिता का सबसे पवित्र नाम 'आई ऐम' ही बताया गया है। अभी हाल 1980 तक हमारे बीच विद्यमान निसर्गदत्त महाराज का तो मूल मंत्र ही यही था— 'आई ऐम' । इसका अर्थ यही न हुआ कि आत्म-ज्ञान के बिना सच्चा परमात्म-विज्ञान और धर्म-विज्ञान संभव नहीं। क्या श्री अनिर्वाण, और क्या मदाम सॉलज़मन— सभी ने जिस एक ही बात को रेखांकित किया है, वह यही है, कि सत्य के असीम विस्तार को किसी एक रूपाकार में नहीं बाँधा जा सकता। उन्हीं के शब्दों में— 'दि बिबिल्डरिंग ऐरे ऑव गॉडज़, फिलॉसफीज़ ऐंड माइथोलॉजीज़ इन इंडिया प्वाइण्ट्स टु दिस' । यह सर्वसमावेशी 'अनेकता' ही हमारी शक्ति है, जो समूचे विश्व में भारतीय सभ्यता को अप्रतिम बनाती है। परन्तु इस शक्ति का स्रोत क्या है? निश्चय ही 'अद्वैत' का तात्त्विक और यौगिक साक्षात्कार ही ऐसी चकरा देने वाली अनेकता और विविधता को धारण कर सकता है। परन्तु हमें अपने पुरखों की उस दूसरी 'स्पिरिचुअल कॉमनसेंस' को भी सदैव ध्यान में रखना होगा कि... 'धर्मो रक्षति रक्षितः' । इसमें भारी सन्देह है कि हमारे अधिकांश बुद्धिजीवी इस सच्चाई को सचमुच स्वायत्त कर पाते हैं, कि "धर्म भी उसी की रक्षा करता है जो स्वयं धर्म की रक्षा करने में समर्थ है।" हमारा निकट इतिहास ही साक्षी है कि कितना अनर्थ उपजाया है तमाम साम्राज्यवादी धर्म-संस्थाओं ने, और खुद हमारे परोपजीवी, औपनिवेशिक जेहनियत के मारे हुए बुद्धिजीवियों ने हमारी इस सबसे गहरी सांस्कृतिक मूल्य-दृष्टि और धर्मदृष्टि का, जो हमें अभीप्सित 'पावनता के पुनर्वास' की भी एकमात्र आशा है। उक्त अनर्थ से खुद उबरना और दूसरों को भी उबारना ही हमाने सामने वह सबसे बड़ी चुनौती है, जिसे स्वीकार किये बिना हम स्वयं अपने समाज और देश-काल के लिए अनिवार्य मूल्य-चेतना और विश्व-दृष्टि का पुनराविष्कार और जतन नहीं कर सकते।

'स एकाकी न रमते' ।... 'एकोऽहं बहुस्याम्' । नारायण को भी नर की— नर के सहयोग की अपेक्षा है— 'नर, जिसकी अनङ्गिप आँखों में / नारायण की व्यथा भरी है।' नर को नारायण की जितनी ज़रूरत है, उससे कम ज़रूरत नारायण को भी नर की नहीं है। इस आधुनिक युग ने मनुष्य के लिए एक ओर यदि अभूतपूर्व सुविधाएँ जुटाई हैं तो दूसरी ओर अभूतपूर्व खतरे और

विपदाएँ भी तो उसके साथ ही साथ उपजायी हैं। जाहिर है कि तब ऐसी विकट परिस्थिति में मनुष्य को अभय—साधना भी एकदम नए ढंग की चाहिए इस अभूतपूर्व संकट का सामना करने और उससे उबर पाने के लिए। आत्म—विज्ञान और परमात्म—विज्ञान की ब्रैंड—न्यू समझ।

वह समझ क्या होगी? क्या हो सकती है— इसी प्रश्नाकुलता का सामना और सत्कार करना मेरे इस व्याख्यान की प्रेरणा और विषय—वस्तु है। प्रसंगवश, नितान्त अपूर्वानुमेय ढंग से मुझे यहाँ जे. कृष्णमूर्ति का स्मरण हो आया है। इससे ज़्यादा उपयुक्त समापन मेरे इस व्याख्यान का और भला क्या हो सकता है? कृष्णमूर्ति कहते हैं :

परम्परा से आपको हज़ारों उत्तेजनाएँ और दमन चेष्टाएँ वसीयत में मिली हैं। उनका सामना करिये— उनको देखिये—समझिये। तभी उनसे पार पा सकेंगे। यह अन्तहीन पुनरावृत्ति उन प्रतिक्रियाओं की और उन पर काबू पाने की आपकी उतनी ही यांत्रिक चेष्टाएँ, सब निरर्थक हैं। समग्र चेतना और साक्षी चेतना ही जीवन का असली परमार्थ और उद्देश्य है। वही जीवन की अनन्त समृद्धि और संभावनाओं को चरितार्थ कर सकती है।

इसमें इतना ही जोड़ा जा सकता है : जीवन की अनन्त संभावनाओं के साथ ही— उनकी चरितार्थता की पूर्व—प्रतिज्ञा सदृश पावनता के पुनर्वास को भी। धन्यवाद। इतने धीरज के साथ आपने मुझे सुना इस कृपा के लिए। तुमुल कोलाहल—कलह में/ मैं हृदय की बात रे मन...। जय!

‘The Rehabilitation of the Sacred’

Ramesh Chandra Shah

“We need a theory of knowledge which shows up the fallacy of positivistic skepticism, and supports the possibilities of a knowledge of entities governed by higher principles.”

— MICHAEL POLANYI, *MEANING*

“Rome is the Great Beast of atheism and materialism, adoring nothing, but itself. Israel is the Great Beast of Religion. Neither the One, nor the other is likeable. The Great Beast is always repulsive.”

— SIMONE WEIL, *Gravity & Grace*

“We are archetypal inwardly and phenomenal outwardly. Man is not called upon to deny any part of his nature, but to bring higher and lower, essence and nature into harmony”.

— A.K. COOMARASWAMY

1

In the Indian tradition of Advaita Vedanta, knowledge in the highest sense is immediate, an experienced reality, in which the duality of knowing subject and known object lapses. But there is something in the Western concept of knowing which transforms the other into an object and thus takes possession of it. Knowledge becomes conceptual control of the universe – permitting no inappropriable mystery in things, in persons, in other cultural – religious traditions. Similarly there is something in their concept of belief too which can be sustained only by the existence of an infidel. An unbelieving other, who can never find himself and is eternally damned. Is there, one wonders in the westernized world of to-day any possibility of a mode of experiencing, which is non-objectifying?

One also wonders if there is any word in Sanskrit, which corresponds exactly to the concept of the sacred or the holy as the polar opposite of the profane. Sanskrit with its rich ambiguities seems to have developed right from the beginning, in-built correctives against that representational and objectifying tendency which it might have shared with

European languages. Perhaps the uniqueness of Indian philosophy and religion lies in the simultaneous de-objectification of the objectified, in the iconoclastic moment which is never for long absent from its iconism. While western logic clings to distinction, Indian logic tries to avoid or surpass it. As Betty Heimann had observed long ago in her 'Facets of Indian Thought', "this Indian attitude to logic, so different from the ancient and modern west, has also resulted in a strange combination of logic and mysticism."¹ It is in early Indian thought that we find the first theories of the union of opposites as the ultimate foundation of the world. Recognizing Man's imperfection and need for being made whole, Christianity promises remedy and betterment in future. The original perfect state in Paradise before the 'Fall' is hardly considered for future development except by poets like Blake and Yeats, who had to evolve their own radical reinterpretations or compensatory mythologies. Vedantic Hinduism, on the other hand, with its central experience of Atman-Brahman identity realised through meditative thinking recognises an ideal state of radical innocence and unity, which is ever-present, though veiled or dimmed owing to our mayic involvement in the world, but never entirely lost.

As the formulation of Coomaraswamy cited above indicates, Indian sensibility can be seen to operate on both planes – the empirical and the transcendental, the sacred and the profane dimensions of existence simultaneously. Of course, the fullness and the constancy of the transcendental are superior to the limited and transitory aspects of the empirical world; but the empirical world is always connected with and nourished by the Transcendental, and always capable of redemption and fulfilment – that is, Self-realisation – through any of the unitive disciplines of Jnana, Karma and Bhakti yoga. Meditative rather than calculative thinking has shaped the philosophies and religions of India; and if there is one experience which appears to ensure the availability of Indian insights into the nature of ultimate reality, it is, in the words of W.B. Yeats, "that experience accessible to all who adopt a traditional technique and habit of life." This, according to Yeats, "has become the central experience of Indian civilisation, perhaps of all Far-Eastern civilization; that, wherein all thoughts and all emotions expect their satisfaction and rest."²

2

The contemporary religious situation, however, is widely acknowledged to be characterized by secularisation and desacralization. Historians, philosophers, social and religious thinkers are almost unanimous in affirming that this is a novel phenomenon in human history and that its origin and unfoldment are to be found in the Judeo-Christian traditions.

¹ Betty Heimann, *Facets of Indian Thought*, p. 150.

² *Aphorisms of Yoga*, trans. by Purohit Swami, with an Introduction by W.B. Yeats, p. 16.

The presence and even occasionally violent expression of some forms of religiosity cannot conceal the fact that mankind lives today in a disenchanting world and religion is no longer the binding force it used to be once. “Things fall apart, the centre cannot hold”, – a prophetic poem of W.B. Yeats had told us – thus, almost anticipating the philosophical enterprise of Heidegger, who came to see this age of radical nihilism as the culmination of a long process which had started with the Greek philosophic enterprise ‘under the long shadow of Socratism’, as Nietzsche had put it. Paul Valéry had already laid his finger at the virtual Europeanisation of the earth; and here was this existential philosopher telling us, that with the spread of the civilisation of the west into world civilisation, the night of nihilism had enveloped the entire earth. Scholars have noted the immense shrinkage in the scope of the Sacred brought about by Protestantism, which divested religion itself of mystery, miracle and magic – those most important elements of the Sacred.³ Here, the pluralistic religious milieu of India had resisted the pressures of Islam: the sacred life-world of the Hindu had even sought to renew itself during that period through the medieval renaissance brought about by the Bhakti movement. An unprecedented flood of poetry had been released – poetry born out of the humiliation itself, as it were – a poetry of the sacred Imagination. But the nineteenth century renaissance was an altogether different affair, it seems – exhibiting as the late Prof. J.L. Mehta had rightly pointed out, – “the effectiveness of the secularising force of the Protestant presence in India.”⁴ By becoming modern to the extent it has done so, Prof. Mehta further says, “India has become a participant in the world-wide phenomenon of secularization. Of late, however, voices of protest against this have been raised in the Christian world, by religious thinkers and a few philosophers, and in India by most of its leading thinkers.” It would be pertinent here to dwell for a while on the kind of role this perceptive philosopher and Vedologist has envisaged for contemporary Indian scholars. The problem, according to him, is, “how to keep the rumour of angels alive, so that the dimension of the sacred remains visible, from which divinity may once again peep through.” He proposes the hermeneutical way as the best way of doing this: “the way of reinterpretation and reformulation of what speaks to me as meaningful and true from the sacred texts of tradition.” He invokes the long history of the Indian hermeneutical enterprise and mentions three focal points in it: the first being the Rigveda Samhitā, including the upanishads; the second, the epic tradition, especially the Mahābhārat; and the third focal point – “summing up and creatively interpreting the entire preceding tradition for an altered world again,” – is the Bhagavatpurana, which is the central text of Hindu religious life, enjoying canonical status in the various schools of Vedānta.⁵ Mehta thinks it imperative to go back to it again

³ *Philosophy & Religion*, J.L. Mehta, p. 246.

⁴ *Ibid.*, p. 248.

⁵ *Ibid.*, p. 249.

as presenting a massive task for reinterpretation in the perspective of the modern present because of its being unique in the religious literature of the world as a classic statement of how our basic pre-theoretical affective dispositions govern our primary attunement to all that is, on the basis of which, we then go on to build our theoretic construct. Also, because it exemplifies and captures in great poetry not only the privacy of the heart's affections, but shows how we cannot enter into truth except through love; for to know things as they are in the realm of the sacred, we must first love them, not the other way round.

There can be little doubt that the Hindu life-world has been rudely shaken and altered by India's entry into modernity since the last century. This, in spite of the fact, that perhaps no other country in modern times has produced such a steady and quick succession of spiritual leaders within such a short span of time. How to come to terms with this curious paradox of a tradition exhibiting such continued vitality and resilience on the one hand, and then sinking into such apathy and cynical self-oblivion on the other hand? Prof. Mehta's concern, therefore has to be taken rather seriously. He refers to the Indian conception of 'homo hierarchicus' as the arch principle of social order, as against the common western ideology of 'homo equalis' as the prime example of a question that deserves a hermeneutical enquiry. But, as Simone Weil has pointed out, "it is only by entering the transcendental, the supernatural, the authentic spiritual order that man rises above the social. Until then, the social is transcendent in relation to him. Our period has destroyed the internal hierarchy. How should it allow the social hierarchy which, is only a clumsy image of it, to go on existing?" Anyway, one can see that there is an urgent need to investigate the forces that have brought about a certain upheaval in our traditional value – system. There are disturbing symptoms in our academic milieu as well as in the literary circles that should open our eyes to this question posed by Prof. Mehta: "How much has been thrown overboard in the name of rationality, modernity and a legitimate concern for justice and humaneness? Is our amnesia of the sacred in life so complete that we cannot even notice that we live in a desacralized common world?"⁶

3

Do such questions sound extravagant and somewhat unreal in the Indian Context? In certain moods and situations they do appear rather remote; but outside them, they acquire an ominous ring. When one becomes part of a great congregation like the Kumbha fair at Allahabad or when one is merely watching the anonymous crowds taking a dip in the Ganges in the holy city of Benaras, one tends to be overcome by an emotion of multitude and to sing amid one's uncertainties. The epiphanies of your own childhood begin to overwhelm

⁶ Ibid, p. 251.

you producing a powerful illusion of that, which ‘having been once must ever be’. And, why talk of childhood? Wasn’t it Yesterday (just ten years ago) that having overcome my deep-set secular resistance to Sri. Aurobindo through his work on the Vedas, I happened to plunge thence headlong into his ‘synthesis of Yoga’, and, was dragged, in spite of myself into a world, which left to myself, I could never have believed in. What happened to all that? How could I lose my grip on my own experience as if it had happened to somebody else? Was it a mere failure of nerve on my part? Or, was it that what happened to me was part of what is happening all around me – part of that collective drift and amnesia, which in my vocation as a writer, I just can’t help witnessing and suffering. By collective drift and amnesia, I mean here the amnesia of the community of academics and intellectuals which forms my immediate milieu. Isn’t the Bhagvadgita most emphatically clear about that? “Whatever the high in society do, ordinary people will imitate; they follow their example.” Who is this ‘Srestha’ of Gita, if not the intelligentsia itself – the hard – hearted intelligentsia, of whom Mahatma Gandhi once said that they had been the longest nightmare of his life? This at once brings to my mind an entry in the journal of Agyeya, my literary mentor, who was the pioneer of the New Poetry Movement in Hindi:

“The west is no longer under the delusion that its religion, its metaphysics etc. are better than these of the East. They know what it is they lack or have lost and they are genuinely anguished about it. That anguish stirs them into thinking and doing what it is they lack or have lost and they are genuinely anguished something to solve their predicament before it is too late. But what about ourselves? We seem to be hardly concerned about those very things that should be the cause of the deepest concern to us.”

Throughout my literary life, I hardly ever remember to have heard my fellow-writers discussing our sacred texts or, even the works of our modern sages like Sri Aurobindo or Coomaraswamy. One has to search elsewhere for such sparks. I had occasion recently to witness something which I would never have believed otherwise. I witnessed the transformation wrought in the lives of millions of poor people through a movement called ‘Swādhyāya’, which is dedicated to the realisation of Bhakti as a social force. “You could not be born at a better period than the present, when we have lost everything” – says Simone Weil in her book called ‘Gravity and Grace’. I happened to be reading this book at the time and was astounded to hear Pāndurang Shāstri Āthawale – the guardian spirit behind this movement of Swadhyaya – expressing a somewhat similar sentiment. “This ironage, ‘kaliyug’ – he said ‘is the fittest for the practice of Bhaktiyoga and Karmayog of Gita. Who would have needed me or my work in so-called better times? I am luckier than Yājñyawalkya.”

¹ J.L.Mehta, *The Philosophy of Martin Heidegger*, p. 219.

Well, that was reassuring enough against the backdrop of the omnipresent violence and corruption – wasn't it? – at least for the time being, and many of the intellectuals who had accompanied me to that spectacle shared my positive, responsive feelings towards this triumphant demonstration of the still continuing validity and resonance of the ancestral wisdom. But, back home, one felt skeptical and depressed once again. Since, it is the conversational apparatus that maintains reality – that is, the experience of what counts as reality in a particular society at any particular time, it is of urgent importance to us to take the hermeneutical endeavour seriously. Such an endeavour, in the words of Prof. Mehta, is “the only way in which the potency and seminal power of the primal works of our own tradition can become meaningful to us once again.”

4

This may not well be ‘the only way’; but it is certainly one of the ways to recover the sacred for a common life-world. There is another way, of course; and that is the way of the creative imagination of the poet. Holderlin’s poetry, for, example, was, for Heidegger, “a pointer in the direction of rethinking about God in terms of the Holy and of Truth, of the arrival of the Divine as an event to be awaited and prepared for by a deeper insight into the meaning of Truth and Being.” Rather unfamiliar and somewhat mystifying terminology for us Indians, who have been accustomed to finding the English Romantics much closer to our own understanding and experience of the matter. One’s instinct calls for immediate assent to Coleridge’s definition of Imagination, for instance, and to Kathleen Raine’s comment on it, equating ‘the living power and prime agent’ with the Vedantic Sat-Chit-Ānanda – “the presence within the finite self of the transcendent divine Self”. According to her, “Coleridge’s definition comes as close as it has hitherto been possible in the West to an affirmation of the universal ground of a ‘God within’. Coleridge in his later years withdrew into the religious snare of Christian theology from what as a poet he knew.”⁸ This special poetic knowledge certainly brings us closer to an understanding of the concept Of the holy or sacred, which, at the outset, I had found rather untranslatable into Sanskrit. One’s instinct calls for immediate assent also to Blake’s ‘everything that lives is holy’ because that is exactly what we have been accustomed to hear not only from our Vedic and Upanishadic poets, but also from the greatest of our medieval saint-poets. Tulsidas, for instance, invokes precisely this live holiness at the very outset of his great epic.

⁸ Kathleen Raine, ‘Yeats & the Learning of the Imagination’.

“ (‘O you living creatures of the land, of water and of air! I bow before each and everyone of you, because you are the living embodiments of my Lord Rama and his consort Sita. Accept me as your devoted servant and bless me. I have no confidence in my intelligence apart from you and that’s why I seek and invoke your blessings’)

5

Incidentally, it is the principle of ‘joy’ – celebrated by Blake as well as Coleridge-which seems to be of crucial significance in the present context. In his famous essay on Heraclitus, Sri Aurobindo has underlined the conspicuous absence of this very principle of joy in the Greek philosopher’s otherwise perfect understanding of the other two terms Being and Consciousness, Sat and Chit. He views the absence of the recognition of this third principle of *Ananda* as a limitation of his vision of reality. It is quite significant that Kathleen Raine, while praising the courage and clear-sightedness of Blake, has emphasised the presence of this very insight in Blake. “If Western philosophers might accept being and consciousness” – she says, “only Blake would have understood that the third term! ‘Bliss’, *ānanda* is in the very nature of being itself. ‘Life delights in life’, Blake writes; ‘the soul of sweet delight can never be defiled’. That is where poetry’s especial contribution to the understanding of fundamental knowledge lies”.⁹

I have no idea what Heidegger meant by his conception of the Holy and of God or gods. I don’t know whether the limitation Sri Aurobindo recognised in Heraclitus – that fountain-head of Greek philosophy was also in some manner the limitation of this modern (in fact, post-modern) anti-metaphysical thinker of Being and Time. Scholars have suggested that in his famous essays on Holderlin (George Steiner, incidentally, considers Heidegger ‘the deepest reader of poetry in our times’) the Holy has been determined as the Unmediated and the poet as the mediator. But the poet himself needs the mediation or the gods to give utterance to the Holy. In Heidegger’s view, the gods are the intermediaries, upon whom the poet depends and, who in turn depend on the poets. This language of the latter Heidegger somehow seems to conjure up before us the Vedic world-picture and it is no mere coincidence that the late Prof. Mehta went from Heidegger to his own independent and very insightful researches into Rigveda, which led him to a conclusion that is best expressed in his own words:

“In the interpretation of the Vedic text, it is not only religious and cultural-anthropological prejudices that have been at play during two centuries of Western Vedic scholarship; philosophical pre-suppositions too have wrought havoc here, through the unquestioning importation of Western conceptuality into another tradition”.¹⁰

⁹ Ibid.

¹⁰ J.L. Mehta, *Philosophy & Religion*, p. 281.

The evidence of visionary poetry, like that of William Blake, is certainly more to the point than what Coomaraswamy in his own 'Approach to the Vedās' had chosen to call 'the Western game of scholarship'. Blake equates imagination or the poetic genius with the god within, and that god, within with Jesus. But, for Blake, Jesus was not the historical person of exoteric Christianity, but the divine humanity present in all human kind. This, then is Reality as it is experientially known and established in the word and by the word by poets. "If reality is an experience and not an object in space" – says Kathleen Raine, "it is a realm of values, of which, the supreme value is the sense of the holy, the realm of the sacred." Also, that, "for lack of an adequate metaphysical structure, such as India possesses, the Romantic poets had to find their own terms in which to affirm the innate transcendent presence."¹¹ "It is hightime Indian poets and philosophers did something about what seems to be an existential imperative for them: repossessing and creatively re-appropriating what is their very own. The inheritance of a civilisation where the poets have been the virtual legislators, not just romantically, but literally. Blake's first editor, – the poet Yeats – once thought of writing a 'European Geetā – not doctrine, but song". But that's exactly what Gitā and the other sacred texts like the 'Rigveda' and the 'Bhagavatpurana' are and have always been to millions of people in this country – not just doctrine, but song. There hardly exists a pure philosopher in the popular imagination! even the great Sankara had to sing. And no one knew it better than Yeats did, who, after all, thought it worthwhile to put into English "what grass farmers sang thousands of years ago, what their descendents sing today". Let me conclude this rambling paper by invoking the voice of Blake himself.

“...Teach me, O Holy Spirit, the testimony of Jesus! Let me
Comprehend wondrous things out of the Divine Law!
I behold Babylon in the opening streets of London. I behold
Jerusalem in ruins wandering about from house to house.
This I behold: the shudderings of death attend my steps.
I walk up and down in six thousand years: their events are
present before me....¹²

¹¹ Kathleen Raine, 'Yeats & the Learning of Imagination'.

¹² 'Jerusalem: III; *Poetry & Prose of William Blake*, ed. by Geoffrey Keynes, p. 533.